

स्कूली शिक्षा में अध्यापक की भूमिका केंद्रीय होती है लेकिन वह समाज से स्वायत्त नहीं होता। अपने छात्रों, समाज, शैक्षिक ज्ञान और प्रक्रियाओं के बारे में उसकी अपनी मान्यताएं होती हैं। यह मान्यताएं स्कूलों में उसके शैक्षणिक प्रयासों को प्रभावित करती हैं। समाज में व्याप्त मान्यताएं शिक्षक के नजरिए पर दूरगामी असर डालती हैं। उत्पादन की प्रक्रियाएं और सामाजिक-राजनीतिक स्थितियां इन मान्यताओं के बनने में अहम भूमिका अदा करती हैं। शिक्षक का नजरिया बच्चों के साथ उसके संवाद पर किस तरह असर डालता है, यह लेख इन्हीं सवालों को समझने का प्रयास करता है।

शिक्षक, स्कूल और सामाजिक संबंध

यमुना सनी

एकलव्य होशंगाबाद में सामाजिक विज्ञान शिक्षा पर कार्य कर रही हैं। स्कूलों में परंपरागत शिक्षा की आलोचना करते हुए स्कूलों में भूगोल के बेहतर शिक्षण पर कार्य कर रही हैं। टाटा समाज विज्ञान संस्थान, मुंबई के आरंभिक शिक्षा में स्नातकोत्तर कार्यक्रम में समाज विज्ञान की गेस्ट फ़ैकल्टी के तौर अध्यापन करती हैं।

स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका केंद्रीय होती है और वे ही स्कूली व्यवस्था के तर्काधार, उसके लक्ष्यों और उसकी कार्यकारी प्रक्रियाओं को अमली जामा पहनाते हैं। वे इस व्यवस्था में निचले पायदान पर स्थित हैं, पर सबसे ज्यादा दिखाई देने वाली सक्रिय पात्र हैं। भारतीय स्कूलों की बدهाल दशा के लिए शिक्षकों को जिम्मेदार ठहराया जाता रहा है। सरकारी स्कूल के शिक्षकों को अक्सर निशाना बनाया जाता है। स्कूलों में भूगोल शिक्षा के अध्ययन के सिलसिले में मैंने मध्यप्रदेश के होशंगाबाद शहर की कुछ स्कूली कक्षाओं का अवलोकन किया। इन अवलोकनों के दौरान कक्षाओं में होने वाली गतिविधियों से शिक्षकों और विद्यार्थियों के संबंधों को समझने में मदद मिली। साथ ही सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं और रिवाजों के साथ ज्ञान के मजबूत नातों के भी दर्शन हुए। इस अध्ययन के दौरान यह स्पष्ट होता गया कि शिक्षकों को किसी स्वतंत्र सत्ता के रूप में विश्लेषित नहीं किया जा सकता, बल्कि उन्हें स्कूली व्यवस्था और समाज के साथ उनके संबंधों के परिप्रेक्ष्य में ही विश्लेषित किया जा सकता है।

कक्षा में होने वाले क्रियाकलाप

स्कूलों में भूगोल अपनी अमूर्त अवधारणाओं की व्याख्या के लिए, जैसे कि 'पृथ्वी की गतियां' आदि के रूप में जाना जाता है। यद्यपि इन अवधारणाओं को विषय

की बुनियाद के रूप में देखा जाता है लेकिन विद्यार्थी बड़ी कक्षाओं तक भी इन्हें समझ नहीं पाते और इनसे कतराते हैं। यह अध्ययन इस स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए किया गया था और इससे पता चला कि पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान और बच्चों की समझ में भारी अंतर है। हमारे सामने सवाल यह था कि ऐसा क्यों होता है? इसे समझने के लिए कुछ कक्षाओं का अवलोकन किया गया। शिक्षक इस बारे में क्या सोचते हैं, यह जानने के लिए शिक्षकों के साथ साक्षात्कार भी किए गए। ऐसे ही कुछ अवलोकनों और शिक्षकों की मान्यताओं का उल्लेख यहां उदाहरण के रूप में किया गया है :

उदाहरण 1

कुछ शिक्षक यह मानते थे कि बच्चे तो किसी भी तरह से किसी अवधारणा को नहीं समझ पाते, इसलिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्हें कैसे और क्या पढ़ाया जा रहा है। वे बच्चों के न सीख पाने की सारी जिम्मेदारी 'बाल्यकाल की कमियों' पर डाल देते हैं। यह दृष्टिकोण शिक्षकों का बनाया हुआ नहीं है, बल्कि सामान्यतः समाज में व्याप्त है -- कि बच्चे कुछ जानने-समझने के लायक नहीं होते -- उनसे जुड़े सारे निर्णय वयस्कों को ही करने चाहिए। यह सही है कि बच्चों को उतना अनुभव हासिल नहीं होता जितना बड़ों के पास होता है, पर इस बात को भी स्वीकार करना चाहिए कि वे जानने, सीखने और अनुभव हासिल करने की प्रक्रियाओं से गुजर रहे होते हैं और इसमें बड़ों का मार्गदर्शन महत्वपूर्ण होता है। बच्चों की क्षमताओं को जैविक रूप से निर्धारित मान लिया जाता है। सीखने को सामाजिक रूप से सुगम बनाने के पहलू को अक्सर अनदेखा कर दिया जाता है। ज्ञान के उत्पादों को संप्रेषित करने के लिए पाठ्यपुस्तकें रच दी जाती हैं जो विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच संवाद की गुंजाइश को और कम कर देती हैं। पाठ्यपुस्तकों के दायरे में बंधा संवाद शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच सहज संवाद में नहीं बदल पाता और सीखने की प्रक्रिया का हिस्सा नहीं बन पाता।

अक्सर विज्ञान की अवधारणाएं सामान्यतः चीजें जैसी दिखाई देती हैं उनसे बहुत अलग होती हैं। उदाहरण के लिए, हमें तो दिखाई देता है कि पृथ्वी चपटी और स्थिर है, पर विज्ञान हमें बताता है कि पृथ्वी गोलाकार है। वह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है तथा किसी लड्डू के माफिक अपनी धुरी पर घूमती भी है। यह विरोधाभास इतने पक्के होते हैं कि विद्यार्थियों के लिए विज्ञान के नजरिए को स्वीकारना मुश्किल होता है। वे उस पर विश्वास करते हैं जो उन्हें सच मालूम पड़ता है। शिक्षण/स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया में हम यह मान लेते हैं कि विज्ञान के निष्कर्षों को विद्यार्थी बस स्वीकार कर लें, भले ही सामान्य जीवन में साक्ष्य ऐसे दावों के विपरीत नजर आए। परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी 'पृथ्वी की गतियां' जैसी प्रक्रियाओं के आशय को समझ ही नहीं पाते। संवाद के माध्यम से शिक्षक विद्यार्थियों को खुद अवलोकन के लिए प्रेरित कर विज्ञान के निष्कर्षों को समझने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। ऐसी प्रक्रियाएं बच्चों के अवलोकनों/विचारों तथा विज्ञान के बीच के तीखे विरोधाभास को कम कर करने में मददगार साबित हो सकती हैं।

शिक्षक पाते हैं कि विज्ञान के गूढ़ स्पष्टीकरण बच्चों की समझ में नहीं आते और कई मामलों में शिक्षक, जो कि खुद भी उसी शिक्षा व्यवस्था का उत्पाद होते हैं, भी इन अवधारणाओं में नहीं उलझते। वे व्यक्तिगत समझ और प्रवृत्तियों के मुताबिक इस स्थिति को समझने में व उसे व्यवहारिक रूप देने में दो भिन्न तरीके अपनाते हैं। कुछ के लिए, इससे उस प्रचलित विचार को ही बल मिलता है कि 'बच्चे किसी भी तरह से कोई भी चीज नहीं समझते हैं।' बाकी, स्पष्टतया, बच्चों को परीक्षाएं पास कराने में मदद करने की अपनी भूमिका को निभाने में जुटे रहते हैं। वे उपमाओं तथा प्रतिरूपों का इस्तेमाल करके बच्चों को खास बिन्दु, जैसे कि 'पृथ्वी के घूर्णन से रात और दिन होते हैं' और 'पृथ्वी के परिक्रमण से ऋतुएं पैदा होती हैं', आदि याद करने में मदद करते हैं। कुछ विवरण नीचे दिए गए हैं :

एक शिक्षक ने विद्यार्थियों को एक पेड़ के नीचे एकत्रित किया -- उनसे एक-दूसरे का हाथ पकड़कर एक

गोले में चलने को कहा था। वृक्ष की छाया उनमें से कुछ पर पड़ी जबकि बाकी पर धूप पड़ रही थी। इस स्थिति का सहारा दिन और रात की प्रक्रिया को समझाने के लिए लिया गया। बच्चों का घूमता हुआ गोला घूमती हुई (गोलाकार) पृथ्वी की उपमा बन गया। यह समझाया गया कि वृक्ष की छाया गोले के जिस हिस्से पर पड़ रही है, वह रात को दर्शा रहा था जबकि दूसरा हिस्सा, जो कि धूप में था, दिन को दर्शा रहा था। गोले के घूमते रहने के साथ दिन के हिस्से रात में तब्दील हो गए और रात के हिस्से दिन में।

एक अन्य कक्षा में शिक्षक के द्वारा प्रयास किया गया कि एक बच्चा एक साथ गोल घूमते और चक्कर लगाते हुए आगे बढ़ता जाए। इसके माध्यम से पृथ्वी के द्वारा अपनी धुरी पर तथा अपनी कक्षा में एक साथ घूमने की गतिविधियों को दर्शाया जा रहा था। यह देखा जाता है कि इन उपमाओं में उन कारकों को बिल्कुल शामिल नहीं किया जाता जो दरअसल दिन और रात के होने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं जैसे कि पृथ्वी की गोलाई, गुरुत्वाकर्षण और झुकी हुई धुरी। इसकी बजाय, इन्होंने ऐसे नाटकों का रूप ले लिया जिनके द्वारा विद्यार्थियों को कोई सिद्धांत, जैसे यह कि पृथ्वी घूमती है इसलिए दिन और रात होते हैं, याद कराने में मदद मिल सकती है।

इस मामले का विश्लेषण करते वक्त मन में कई प्रश्न आते हैं - (1) शिक्षकों से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वे बच्चों द्वारा झेली जाने वाली कठिनाइयों को किसी बेहद अमूर्त पाठ्यपुस्तक की सहायता से पार करा लेंगे? क्या उनके पास परिस्थिति को बदल सकने, जैसे कि पाठ्यपुस्तक की अंतर्वस्तु को बदल सकने की स्वायत्तता है? (2) क्या स्कूली व्यवस्था, जिसमें पाठ्यपुस्तकों के स्वरूप, परीक्षाएं, शिक्षक-प्रशिक्षण, आदि भी शामिल रहते हैं, इस तरह की समस्याओं और सीखने की प्रक्रियाओं पर ध्यान दे रही हैं? क्या इस व्यवस्था के यह प्रमुख अंग पुनर्विचार करने की और जरूरत पड़ने पर बच्चों के बारे में, उनके कई अर्थों में सक्षम न होने की प्रचलित आम धारणाओं को चुनौती देने की प्रेरणा देते हैं? (3) हम किस हद तक शिक्षकों से, जो कि खुद भी मौजूदा सामाजिक रिवाजों और नजरियों का हिस्सा हैं, बदलाव के लिए कार्य करने की अपेक्षा कर सकते हैं, जबकि स्कूली व्यवस्था खुद ही उसके लिए तैयार नहीं है?

“
मौजूदा स्थिति में किसी भी किस्म की दरारें पैदा करने के लिए जरूरी है कि हम समाज और स्कूल के बीच के संबंधों पर काम करें और स्कूल को ऐसी जगह बनाएं जिसका समाज के साथ द्वंद्वत्मक संबंध हो।”

उदाहरण 2

कुछ शिक्षक मानते हैं कि विद्यार्थियों की 'अयोग्य' सामाजिक पृष्ठभूमियों के कारण कोई भी शिक्षण प्रभावी नहीं हो सकता। यहां आर्थिक रूप से गरीब परिवारों के बच्चों की ओर इशारा था। इस तरह सारी जिम्मेदारी विद्यार्थियों की सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों पर डाल दी गई। यह स्थिति उन सरकारी स्कूलों, तकरीबन हमेशा ही लड़कों के स्कूलों में देखी गई जहां आज के समय में केवल आर्थिक रूप से गरीब बच्चे ही पढ़ने जा रहे हैं। मध्यमवर्गीय बच्चों को उनके माता-पिता निजी स्कूलों में दाखिल करवा देते हैं (मध्यमवर्गीय लड़कियों को, जिनकी शिक्षा को कम महत्वपूर्ण माना जाता है, अभी भी सरकारी स्कूलों में भेजा जाता है)। यह उल्लेखनीय है कि यहां बताई गई समस्या मुख्यतः एक 'लड़कों के सरकारी स्कूल' की व्याधि है। होशंगाबाद के कई बेहतरीन स्कूल सरकारी कन्या विद्यालय हैं। आइए, मैं इस स्थिति को एक कक्षा के अवलोकन के द्वारा ज्यादा ठोस रूप से समझाऊं।

मैं कक्षा की पीछे की दीवार के पास एक बेंच पर बैठ गई थी। शिक्षिका अक्षांश और देशांतर रेखाओं के

1. निजी स्कूलों में बच्चों को भेजने की प्रवृत्ति को मध्य प्रदेश के लिए 'चाइल्ड राइट औब्जर्वेट्री' (2009; 83) ने दर्ज किया है।

बारे में पढ़ा रही थी। वह लगभग पूरे कालांश के दौरान ब्लैकबोर्ड की तरफ मुंह करके और बच्चों की तरफ पीठ करके पढ़ाती रही। यह छठवीं कक्षा थी। शिक्षिका ने परिभाषाओं और रेखाचित्रों के द्वारा अक्षांश और देशांतर का आशय समझाया। उसने पृथ्वी को दर्शाने के लिए गोले बनाए। उसने देशांतर के 360 डिग्रियों को 180 पश्चिम में जाती रेखाओं व 180 पूरब में जाती रेखाओं द्वारा चिह्नित किया। इसी प्रकार उसने 90 उत्तरी अक्षांश डिग्रियों तथा 90 दक्षिणी अक्षांश डिग्रियों को दर्शाया। जी हां, उसने निष्ठापूर्वक उस अध्याय विशेष में निर्दिष्ट पूरा ज्ञान उंडेल दिया।

पर ब्लैकबोर्ड पर खड़ी शिक्षिका और कक्षा में पीछे के कतार में मेरे बीच एक अलग ही दुनिया सक्रिय थी। यह थे बच्चे, जो एक-दूसरे से बात कर रहे थे, हंसी-मजाक कर रहे थे, जोर से चिल्ला रहे थे और कभी-कभार एक-दूसरे को मार भी रहे थे। उन्हें अलग-थलग खड़ी शिक्षिका द्वारा ब्लैकबोर्ड पर बनाई जा रही अक्षांश और देशांतर रेखाओं की ढेर सारी डिग्रियों से कोई वास्ता नहीं था और वे उस ओर कोई ध्यान नहीं दे रहे थे। एक-दो बार जरूर शिक्षिका मुड़ी और उसने बच्चों को चुप रहने के लिए कहा। पर इससे कुछ ज्यादा फर्क नहीं पड़ा और कक्षा इसी तरह से चलती रही जब तक कि घंटी नहीं बज गई और विद्यार्थियों व शिक्षिका की इन बिलकुल ही असंबद्ध गतिविधियों पर विराम नहीं लग गया।

कक्षा के बाद, मैंने उस शिक्षिका के साथ स्कूल के हालात पर चर्चा की। उसने बताया कि 'अच्छे' विद्यार्थी निजी स्कूलों में पढ़ने चले गए हैं और अब लड़कों के सरकारी स्कूलों में पढ़ने के लिए सिर्फ गरीब लोगों के लड़के रह गए हैं। उसे इन्हें पढ़ाना मुश्किल मालूम पड़ता था जबकि मध्यमवर्गीय बच्चों के साथ ऐसा नहीं था। उसके यह विद्यार्थी अधिकांशतः अपने परिवारों में पढ़ने वाली पहली पीढ़ी थे और इसलिए जाहिर है कि मध्यमवर्गीय परिवार के बच्चों के विपरीत उनके घरों में स्कूली शिक्षा, रटकर सीखने और माता-पिता के सहयोग की कोई परंपरा नहीं थी। न तो पढ़ाए जाने वाले प्रसंगों और न ही पाठ्यपुस्तकों में उनकी कोई रुचि थी और उनमें से कई तो लिख-पढ़ भी नहीं सकते थे। शिक्षिका ने व्यवस्था द्वारा उससे की जाने वाली अपेक्षाओं, अर्थात् उन बच्चों को यह अध्याय पढ़ा देने, को पूरा करने में अपनी असमर्थता और असहायता जाहिर की।

यहां पर 'सांस्कृतिक पूंजी' -- जैसा कि बोर्ड्यू ने इसे कहा है -- के अभाव की एक विशिष्ट समस्या सामने आती है। बोर्ड्यू ने तीन प्रकार की पूंजी की पहचान की थी- आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक। पहली का ताल्लुक धन से, दूसरी का सामाजिक संबंधों के संजाल से और तीसरी का शिक्षा के उत्पाद से है जो कि '...व्यक्तियों से उनके शिक्षित होने के आम पहलुओं-- लहजा, प्रवृत्तियां, पढ़ना आदि -- के रूप में; वस्तुओं -- पुस्तकों, योग्यताओं, मशीनों, शब्दकोषों आदि -- के रूप में; और संस्थाओं -- सीखने के स्थान, विश्वविद्यालय, पुस्तकालय आदि -- के रूप में जुड़ा रहता है।' (ग्रेनफैल एण्ड जेम्स, 1998; 21)

इस मामले में हम पाते हैं कि सांस्कृतिक पूंजी की कमी का असर कक्षा के भीतर एक खास तरह के विद्यार्थियों पर पड़ता है। मध्यमवर्गीय विद्यार्थी, जिनके पास कुछ निश्चित सांस्कृतिक पूंजी होती है, वे स्कूली पाठ्यपुस्तकों के रूप में तैयार की गई तथा शिक्षकों द्वारा संप्रेषित की जाने वाली, 'शिक्षा' के साथ अपेक्षाकृत बेहतर तालमेल बैठा लेते हैं। पर आर्थिक रूप से पिछड़े बच्चों के मामले में इस तरह का तालमेल इस हद तक नदारद रहता है कि ऐसा लगता है मानो स्कूली व्यवस्था इन्हें जगह देना ही न चाहती हो। सांस्कृतिक पूंजी स्कूली शिक्षा तथा परिवार/सामाजिक ढांचे के बीच के संबंधों के लिए जानकारी का आधार बनाती हैं और माना जाता है कि इससे शिक्षक की विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक पूंजी वाले विद्यार्थियों से तालमेल बैठाने की क्षमता निर्मित होती है।

स्कूली तंत्र में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक पूंजी की परिस्थितियों का खयाल नहीं रखा जाता और ऐसा कोई भी प्रयास पाठ्यपुस्तकों की प्रकृति और शिक्षकों के प्रशिक्षण में भी नहीं दिखाई देता। इससे जाहिर होता है

कि शिक्षा की सुलभता का सवाल सिर्फ बुनियादी ढांचे तक ही सीमित नहीं हो, इसका एक महत्वपूर्ण निहितार्थ ज्ञान की सुलभता भी है। पर चूंकि स्कूली प्रक्रियाओं में सांस्कृतिक पूंजी से वंचित लोगों को शामिल नहीं किया जाता, अतः गेंद वापस ऐसे लोगों के पाले में ही डाल दी जाती है और उनकी 'अयोग्यता' की ओर इशारा करते हुए, उसे ही उनके स्कूली शिक्षा हासिल न करने का कारण बता दिया जाता है। व्यक्ति को ही उसकी सामाजिक विपन्नता के लिए दोषी ठहराया जाता है। पर आधुनिक स्कूल ऐतिहासिक रूप से सामाजिक पूंजी से वंचित कर दिए गए लोगों को समर्थ बनाने का दावा करता है। उससे अपेक्षा की जाएगी कि वह ऐसा स्थान निर्मित करेगा जिसका स्वरूप केवल भौतिक न हो बल्कि उसका एक सामाजिक पहलू भी हो-- जो बच्चों को समर्थ बनाने वाला, उनके लिए सहयोगी साबित होने वाला और परस्पर द्वंद्वात्मक ढंग से सृजनशील हो। यदि ऐसे स्थान बनाए जाते हैं तो शिक्षकों को ऐसी व्यवस्था के एक अंग के रूप में भिन्न प्रकृति वाली पाठ्यपुस्तकों, भिन्न दृष्टिकोणों और कक्षाओं में संवाद के भिन्न तरीकों के माध्यम से अलग ढंग से काम करना पड़ेगा। मौजूदा सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ में, खुद भी वर्गों-जातियों द्वारा बनाई गई सामाजिक व्यवस्थाओं का हिस्सा होने की वजह से शिक्षक भी बदलाव के लिए प्रयास नहीं करते। हमारे पास न तो स्कूली व्यवस्था के और न ही सामाजिक व्यवस्था के, कोई ऐसे संदर्भ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम यह आशा कर सकें कि शिक्षक कोई करिश्माई/आमूल परिवर्तनकारी भूमिका अदा कर सकें।



उदाहरण 3

कुछ शिक्षकों को लगता था कि वे खुद भी पाठ्यपुस्तकों में दी गई जानकारी के प्रति आश्वस्त नहीं थे। फिर ऐसे शिक्षक कैसे उस जानकारी को सफलतापूर्वक अपने विद्यार्थियों को संप्रेषित कर सकते हैं? एक शिक्षिका (जिसका बुनियादी प्रशिक्षण संस्कृत में था, बच्चों को भूगोल भी पढ़ा रही थी) ने अपनी कक्षा में बच्चों को जोर से अध्याय पढ़ने को कहा। विद्यार्थियों ने बारी-बारी से पाठ पढ़ा और शिक्षिका उन्हें बीच-बीच में रोककर कठिन शब्दों के अर्थ बताती चल रही थीं। उदाहरण के लिए, 'ऊष्णकटिबंधीय' को उसने समझाया कि 'ऊष्ण' मतलब गर्म तथा 'कटिबंधीय' मतलब क्षेत्र वाला। गर्म क्षेत्र को इस तरह से समझाने के बाद अध्याय का वाचन जारी रहा। पर अध्याय के खगोलीय और भौगोलिक पहलुओं को न ही समझाया गया और न ही उनकी बात की गई।

वह संभवतः स्कूल (एक सरकारी कन्या विद्यालय) के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों में से थी-- कार्यदक्ष, ईमानदार और विद्यार्थियों के प्रति ध्यान देने वाली। मुझे लगा था कि भूगोल में उसके प्रशिक्षण की कमी के चलते उसकी कक्षाएं संस्कृत कक्षाओं की तरह से संचालित होती हैं, जिसमें कि वह प्रशिक्षित थी। इन मसलों पर उसके साथ चर्चा करते वक्त उसने बताया कि भूगोल का उसका अध्यापन मुख्यतः शब्दों के अर्थ समझाने पर ही केन्द्रित था। वह विद्यार्थियों के लिए, जिन्हें परीक्षा में पास होना जरूरी था, इतना ही कर सकती थी। पर वह ऐसा रुख क्यों अपना रही थी? उसने बताया कि वह यह नहीं मानती कि पृथ्वी वास्तव में सूर्य के चक्कर लगाती है। दरअसल सूर्य ही पृथ्वी के चक्कर लगाता है। उसने मुझसे पूछा कि क्या कोई धार्मिक ग्रंथ पाठ्यपुस्तक में बताई जाने वाली पृथ्वी की गतियों का वर्णन करते हैं? मैंने उत्तर दिया -- 'नहीं'। उसने खुद को एक धार्मिक व्यक्ति बताया और कहा कि उसे बच्चों को वे बातें बताना बहुत मुश्किल लगता है जिन

पर वह खुद यकीन नहीं करती। पर उसे इन विद्यार्थियों को पढ़ाना पड़ रहा था है, अतः उसने एक ऐसा मार्ग अपनाया जहां वह एक शिक्षक के रूप में बच्चों के साथ न्याय कर सके। कृष्ण कुमार (2005) एक ऐसी ही परिस्थिति को समझाते हैं, “स्थानीय समुदाय के सदस्य के रूप में, उसकी संस्कृति और ज्ञान के वैध स्वरूपों का एक हिस्सा होते हुए शिक्षक सहज भाव से उस ज्ञान का तिरस्कार कर सकता था जिसे वह खुद स्कूल में प्रदान कर रहा था। इस ज्ञान को अर्थपूर्ण बनाना उसका काम नहीं था। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व दो हिस्सों में बंटा हुआ था- एक जो शिक्षा तंत्र के वेतनभोगी कर्मचारी का प्रतिनिधित्व कर रहा था और दूसरा स्थानीय समुदाय के एक शिक्षित और पारंपरिक रूप से सम्माननीय सदस्य का।”

ऊपर बताई गई परिस्थिति द्वंद्वात्मक होने की बजाय दोहरेपन वाली अधिक मालूम पड़ती है। हम पाते हैं कि यह दोहरापन, समाज के एक हिस्से के रूप में दुनिया को देखने के शिक्षकों के नजरिए में और फिर स्कूलों, जहां कि उनकी नौकरी होती है, के माध्यम से विज्ञान के वैश्विक नजरिए के रूप में सामने आता है। स्कूली शिक्षा शिक्षकों और विद्यार्थियों को एक-दूसरे का सहयोगी उपकरण बनकर काम करने के लिए प्रेरित करती है। वहीं दूसरी ओर, विज्ञान ने विचार करने के एक ढंग के रूप में या फिर ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया के रूप में लोक मान्यता और आम सोच में अपना कोई खास स्थान नहीं बनाया है और इसीलिए शिक्षक स्कूल तथा समाज के संबंध में दोहरी भूमिका अदा करता है।

निष्कर्ष

पूर्व-आधुनिक तथा आधुनिक, दोनों ही कालों में उत्पादन प्रक्रियाओं ने असमानतापूर्ण सामाजिक संबंधों के लिए राह बनाई है। इसीलिए शिक्षा और जनसंघर्षों (जैसे दलित आंदोलन) पर होने वाली चर्चाएं वर्ग, जाति, लिंग के आधार पर व्याप्त असमानताओं के इर्द-गिर्द घूमती हैं। आधुनिक स्कूल ज्ञान की सुलभता के प्रश्नों जैसी समस्याओं को हल करने की संभावनाएं पैदा करता है। हम देखते हैं कि स्कूली शिक्षा में भी सांस्कृतिक पूंजी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। अक्सर स्कूल मौजूदा सामाजिक विषमताओं को ही मजबूत बनाते हैं और उन्हें फिर पैदा करते रहते हैं।

न तो ज्ञान की प्राप्ति में और न ही वंचित समुदायों की ज्ञान तक पहुंच में कोई गुणात्मक सुधार आया है। कक्षा के भीतर के संबंधों और साथ ही स्कूली तंत्र और समाज के संबंधों (शिक्षक दोनों का ही हिस्सा होते हैं) की न तो पर्याप्त रूप से पड़ताल की जाती है और न ही उन्हें सुधारने के लिए कोई प्रयास किया जाता है। अतः शिक्षक मौजूदा मानकों को ही दोहराते चले जाते हैं। इसके चलते केवल कुछ निश्चित तौर-तरीकों से ही जानकारियों का अर्थ लगाने के तथा सामाजिक वर्गीकरण को स्वीकार करने के रास्ते साफ हो जाते हैं। अतः स्कूल ऐसे स्थान नहीं बन पाते जहां ज्ञान के माध्यम से संबंधों में बदलाव होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में, शिक्षक पारंपरिक सामाजिक संबंधों को ही बनाए रखने व आगे बढ़ाने के वाहक मात्र बनकर रह जाएंगे। हमारे पास ऐसे कोई संदर्भ मौजूद नहीं हैं जिनकी मदद से हम उन्हें परिवर्तन के प्रवर्तकों की भूमिका में स्थापित कर सकें। मौजूदा स्थिति में किसी भी किस्म की दरारें पैदा करने के लिए जरूरी है कि हम समाज और स्कूल के बीच के संबंधों पर काम करें और स्कूल को ऐसी जगह बनाएं जिसका समाज के साथ द्वंद्वात्मक संबंध हो। एक ऐसी व्यवस्था में, जो अपने दृष्टिकोणों और प्रकृति के तौर पर द्वंद्वात्मक और क्रांतिकारी हो, शिक्षकों की भूमिका काफी अलग होगी। ऐसे कल्पनाशील व्यावहारिक प्रयोग तीसरी दुनिया के देशों में पाउलो फ्रेरे के साक्षरता अभियानों में देखे गए थे। उसने अपने विद्यार्थियों की विशिष्ट ऐतिहासिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों के मुताबिक अपनी शैक्षणिक पद्धतियां तैयार कीं। इसका अर्थ था कि विद्यार्थी अपनी अवधारणाओं को शिक्षकों द्वारा बताई जाने वाली अवधारणों के साथ जोड़ सकते थे।

होशंगाबाद की परिस्थितियां दर्शाती हैं कि शिक्षा की सुलभता के विभिन्न पहलुओं को राजनैतिक रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए। आदिवासियों की परिस्थितियां ऐसी हैं कि वे लगातार बस संघर्ष के पथ पर

ही चलने को मजबूर हैं क्योंकि उदारीकरण-वैश्वीकरण के माध्यम से वन संसाधनों का दोहन करने के लिए उन पर तेजी से कब्जा किया जा रहा है। उनकी शिक्षा और चुनौतियों के प्रश्नों को इन संदर्भों की रोशनी में समझना जरूरी है जहां उनके संघर्ष आजीविका के बुनियादी सवालों से ही जुड़े हैं। उदारीकरण की नीति लागू होने के बाद से ही (1990 के बाद से) स्कूल खोलने की मध्य प्रदेश प्रशासन की मुहिमें काफी हद तक प्राथमिक स्तरों तक ही सीमित रही हैं। दूसरी ओर होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (एच.एस.टी.पी.), जिसमें कि कक्षाओं के भीतर संबंधों को निर्मित करने की सामर्थ्य थी, को सरकार द्वारा बंद कर दिया गया। एच.एस.टी.पी. की विवेचनात्मक समीक्षा करते हुए, यह कहा जा सकता है कि उसने इसी तरह की सामर्थ्य स्कूल और समाज के संबंध में पैदा नहीं की। नवउदारवादी प्रभाव इन तमाम मसलों को एक बिलकुल ही भिन्न दिशा में ले जा रहे हैं। हम इसके परिणाम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं -- शिक्षा का पूरा ध्यान विद्यार्थियों की समझ विकसित करने, बंधे-बंधाए ढरों को चुनौती देने और बदलाव के लिए प्रेरणा देने पर न होकर केवल उन्हें साक्षरता और संख्या ज्ञान देने पर है। शिक्षा के बौद्धिक उद्देश्य अलग-थलग हो गए हैं और उनका स्थान बाजार के कामकाजी उद्देश्यों ने ले लिया है। एम. दुबे (2009) ने शिक्षा पर नवउदारवादी आवेगों के ऊपर लिखते वक्त उसकी प्रधान विशेषताओं का उल्लेख किया था जैसे साक्षरता और अनौपचारिक केन्द्रों का विकास, अर्ध-शिक्षकों की नियुक्ति करना और मल्टीग्रेड शिक्षण का विकास। इसके प्रभाव से स्वयं सेवी संगठन भी अछूते नहीं रह पाते। यहां तक कि एकलव्य जिसने एच.एस.टी.पी. जैसा कार्यक्रम चलाया था, ने भी मार्ग बदल लिया है। आज उसकी मुख्य भूमिका स्कूल के बाहर काम करने वाले शिक्षण केन्द्रों जैसी हो गई है जो बुनियादी रूप से प्राथमिक स्तरों पर अक्षर ज्ञान और संख्या ज्ञान कराते हैं। आर. कुमार (2009) ने पूंजी की जरूरतों के आगे शिक्षा की दासता के रूप में इस स्थिति की उचित व्याख्या की है।

अंत में मैं बर्टेल अलमेन (1998) द्वारा किए गए एक गहरी दृष्टि देने वाले अवलोकन के साथ अपनी बात खत्म करना चाहूंगी। उसने बताया कि जो हो रहा होता है उसे अर्थपूर्ण बनाने के लिए हम कैसे अक्सर एक समय पर समाज के एक हिस्से को देखते हैं। समाज की समझ विकसित करने के लिए उसके विभिन्न हिस्सों के बीच के नातों, जैसे कि उनके इतिहास और आगे के विकास की संभावनाओं, को समझना अक्सर जरूरी नहीं माना जाता। यह दृष्टिकोण स्कूलों में शिक्षकों को लेकर किए जाने वाले किसी भी विश्लेषण पर लागू होता है। ♦

संदर्भ

1. ग्रैनफेल एम., जेम्स डी. (1998), बोर्दर एण्ड एज्युकेशन : एक्ट्स ऑफ प्रेक्टिकल थियरी, फ्लेमर प्रेस, लंदन/ब्रिस्टल।
2. कुमार कृष्ण (2005), पॉलिटिकल एजेण्डा ऑफ एज्युकेशन : ए स्टडी ऑफ कॉलोनियलिस्ट एण्ड नेशनलिस्ट आइडिया, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली
3. दुबे एम. (2009), डिबेटिंग एज्युकेशन IV : अगेन्स्ट नियोलिबरल थ्रस्ट, एज्युकेशन सिस्टम इन इण्डिया सहमत, नई दिल्ली, पृष्ठ 13-20।
4. ब्रैटल ओलमेन (1998), 'व्हाई डायलेक्टिस? व्हाई नाउ?' साइन्स एण्ड सोसाइटी, खण्ड 62, अंक 3, फाल 1998, पृष्ठ 338-357।